भोग की परम्परा लोगों के हित में नहीं

दो परम्परायें बरसों से भारत सहित पूरी दुनिया में हैं। भारत में इन परम्पराओं का सिलसिला दुनिया के अधिकांश देशों से अधिक पुराना है। यह परम्परायें भारत की संस्कृति में रची-बसी भी हैं। हालांकि ये परम्परायें एक दूसरे की पूरक न हो कर, विपरीत हैं। दोनों ही जीवनशैली के अंग हैं पर दोनों में ही बरसों से द्वंद चल रहा है। इनमें से एक परम्परा को पश्चिम ने अधिक अपनाया और बढ़ाया-चढ़ाया है। कुछ एशियाई देशों ने भारत की एक परम्परा को, अपनी संस्कृति में शामिल किया और प्रेम से स्वीकार किया है। समय, काल तथा परिस्थिति से प्रभावित यह दोनों परम्परायें अपने समय में उत्थान और पतन देखती रही हैं, पर संभवत: कभी पूरी तरह से समाप्त नहीं हुई हैं। हाँ, उनका अधिकतम होना स्वर्ग का सुख देता है और उनका न्यूनतम हो जाना दुख, कलह और विकार को विस्तार देता है।

ये दो परम्परायें हैं-एक योग की और दूसरी भोग की। जीवन को सहज तथा राजीखुशी जीने की आकांक्षा दोनों के मूल में है। जीवन को अमर बनाये रखने की कामना दोनों का आधार है। पर इन इच्छा-आकांक्षाओं को प्राप्त करने का मार्ग दोनों का ही पृथक-पृथक है। ये दोनों परम्परायें विज्ञान से पुष्पित और पल्लवित हुई हैं। विज्ञान यानी जानने का पुष्टियुक्त प्रामाणिक आधार। जिज्ञासा, कौतूहल और समग्रता दोनों के ही आधार रहे हैं। पूर्व में, विशेषकर भारत में जीवन और उससे जुड़े सभी रहस्यों को जानने का प्रयास उसे एकांतिक मानकर नहीं किया गया। जीव, उसकी चेतना यानि उसके सक्रिय होने के कारण मीमांसा, उसका प्रकृति आदि से संबंध इत्यादि तमाम बातें इस जिज्ञासा-प्रयास में शामिल रही हैं। इस प्रयास में शरीर की संचेतना और उसका आदि-अन्त यानि जन्म और मृत्यु को जानने के लिए अपने ही भीतर जाकर खोज होती रही। इस आत्म प्रयास से ही आत्मा और परमात्मा की सम्बध्दता का इलहाम हुआ। यह आभास हुआ कि कोई बता रहा है। यह भी अनुभव में आया कि यह प्रकृति भी उस पुरूष का ही विस्तार है। यह भी अनुभव में आया कि शरीर की संचेतना उसी के अंतरतम का हिस्सा है और वह शरीर में होते हुए भी उससे पृथक है। मृत्यु का अर्थ ही है कि उस चेतना का शरीर से पृथक हो जाना। जन्म का अर्थ ही है भ्रूण में चेतना का प्रवेश कर जाना। इससे ही जाना कि वह चेतना नश्वर नहीं है, शरीर की तरह। इससे ही जाना कि वह चेतना का पदार्थ या वस्तु की तरह आकार नहीं है। वह एक ऊर्जा है, जो होती तो है, पर उसे सामान्य आंखों से देखा जाना संभव नहीं है। उसका अनुभव, अनुभूति होती है। यह अनुभव या अनुभूति ही प्रमाण है। इस पूरे ज्ञान-विज्ञान को आत्मा और उसके पिता परमात्मा का ज्ञान माना तथा जाना गया। भारत इस ज्ञान-विज्ञान के आधार पर विकसित होता रहा है।

भारत तथा बाद के अन्य देशों के कुछ लोग शरीर, पदार्थ और प्रकृति को ही तथ्य के रूप में स्वीकार करते रहे क्योंकि वे दृश्य थे। ऐंद्रिक संज्ञान उनका होता था। उनकी सक्रियता जैविक ही थी। इसलिए उनके ही आपस के संबधं, परिणाम और प्रभाव को जानने का प्रयास होता रहा। यह प्रयास भी विज्ञान की प्रक्रिया

और पुष्टि से हो रहा था। वे पूर्व के अतीन्द्रिय प्रयासों को मिथ्या मानते रहे। अनेक अनुभव और अनुभूतियों का हिस्सा पदार्थों की यह संरचना और विरचना रही। वे भौतिक और रासायनिक प्रक्रियाओं से प्राप्त ऊर्जा को ही इस सबका आधार मानते और जानते रहे। इसी आधार पर जीवन और उसे संचालित करने, उसे बचाये रखने के उपाय किये जाते रहे। यह अधिक तार्किक और सहज अनुभव किया जा सकता था। इसमें रूप, रंग और आकार दृश्य था। इसके परिणाम और प्रभाव वायवी नहीं थे। जन्म और मृत्यु ही नहीं जीवन को प्रभावित करने वाली अन्य स्थितियां भी सकारण थीं और उसके आधार थे। जीवन को संसाधनों, वस्तुओं तथा उपायों से सुखी और संरक्षित किया जा सकता था। हां, मृत्यु के वैज्ञानिक कारण समान नहीं पाये जाते रहे और ऐसे ही जीवन में कई बार और कभी-कभी कुछ ऐसा होता था जो तार्किक नहीं था। पश्चिम का पूरा विज्ञान इसी पदार्थ, ऊर्जा, प्रकृति और उसकी सम्बध्दता पर विकसित हुआ और अब भी हो रहा है। इसके मानने वालों की संख्या भी कुछ ज्यादा कही जा सकती है।

पूर्व यानि भारत के इस आत्म केन्द्रित अनुभव ने वहां के लोगों की जीवन के प्रति दृष्टि को ही बदल दिया। वे शरीर और उसके सुख भोग को अपना लक्ष्य नहीं मानते थे। वे मानते थे कि शरीर उस आत्मा या चेतना का रथ या वाहन है जिससे वह संचालित होता दिखाई देता है। यह भी अनुभूति हुई कि इस आत्मा का भी एक नियंता, मालिक या संचालक है जिसे परमात्मा कहा गया। परमात्मा ही इस पुरूष प्रकृति प्रधान रचना का केन्द्र है। परमात्मा इसका रचता तो है पर वह जीवात्मा के जीवन और उसके व्यवहार का कर्ता नहीं है। अपने जीवन-व्यवहार का लेखक स्वयं जीवत्मा ही है और इसी जीवन-व्यवहार के लिए वह जन्म तथा मृत्यु के चक्कर में आता है। अपने व्यवहार के लिए उसे ही संस्कार वश जीवन जीना होता है। यानि आत्मा, मन, बुध्दि तथा संस्कार का लाक्षणिक फेनोमिना है। इसी से भारत में और बाद में इस भारतीय दृष्टिकोण को स्वीकार करने वाले देशों में ऐंद्रिक भोग के बजाय शरीर को साधना का आधार मानने का झुकाव बढ़ता चला गया। शरीर तब अपने संस्कारों को सात्विक बनाते हुए देवत्व प्राप्त करने का माध्यम बना और अब भी बना हुआ है। भारत की यही परम्परा अपने को जानने और जानकर अपना संबंध परमात्मा से जोड़कर उस समग्रता या सम्पूर्णता को प्राप्त करने का आधार बनी हुई है। यह भी सच है कि इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ से ही अब योग-भोग के इस व्दंद से लोग ऊहापोह में हैं। वे न तो पूरी तरह से योग की परम्परा को छोड़ देने में अपना हित देखते हैं और न ही भोग की परम्परा को पूरी तरह से स्वीकार करने में उन्हें लाभ दिखाई दे रहा है। अमरीका और यूरोप के देश भी अब योग की परम्परा की और झुक रहे हैं और भारत में भी उन लोगों की संख्या बढ़ रही है जो अब धीरे-धीरे पश्चिम के भोग को अपनाते हुए लगातर संकट में फंसते जा रहे हैं। हां यह सच है कि यह व्दंद अभी पूरी तरह से समाप्त नहीं हुआ है। इसका एक कारण योग की परम्परा में पीछे के दरवाजे से प्रवेश करता भोग जो सुविधा और सहजता के रूप में आता जा रहा है। धर्म में इसी से पाखंड के व्यवहार और प्रवृत्तियां तेजी से बढ़ती जा रही हैं। इससे योग की तरफ मुड़ते हुए लोग कुछ ठहर से जाते हैं। इसे उन लोगों को अधिक समझना होगा जो मानवीय गुणों के विकास के लिए समर्पित हैं। इसे उन लोगों को भी समझना होगा

जो जानते हुए भी पांखड को बढ़ावा देने में सहयोगी हो रहे हैं क्योंकि वे जानते है कि उनके इन व्यवहारों तथा मूल्यों से लोग या समाज का भला नहीं होगा। भोग की परम्परा के लोग भी इतना तो जानते ही हैं कि मनुष्यता की भलाई योग की परम्परा में ही है। योग की परम्परा सुख या उसके संसाधनों की विरोधी नहीं है। वह केवल उनको साधन ही मानती है, साध्य नहीं। साध्य तो है आत्म विश्लेषण, आत्म विवेचन। आत्मा की पहचान और उसकी उस परमपिता परमात्मा से संबद्धता।

ooo